# अज्ञेय की भाषा शिक्षा

शंकर शरण*

**संस्कृति की बुनियाद भाषा ही होती है। किंतु आजकल करियर, तकनीकी और अर्थवाद के व्यापक प्रभाव में यह सत्य शिक्षा में उपेक्षित हो रहा है। किसी के शिक्षित होने में उसे भारतीय साहित्य का ज्ञान भी होना आवश्यक नहीं समझा जाता। इस दु:खद स्थिति को समझने में अज्ञेय का भाषा चिंतन अत्यंत उपयोगी है। बच्चों को संस्कारी भाषा की शिक्षा देना अनिवार्य है। इसके लिए भाषा सीखने का संस्कार पैदा करना चाहिए। हममें से 90% लोग मातृभाषा की उतनी शिक्षा नहीं पाते जितनी पानी चाहिए। अंग्रेजी सीखने के लिए तपस्या की जाती है, पर अपनी भाषा के लिए मान लिया जाता है कि वह अपने आप आ जाएगी। अज्ञेय का चिंतन प्रमाणिक रूप से बताता है कि कोई भी भाषा अपने - आप नहीं आती। उसे यत्नपूर्वक सीखना होता है। प्रस्तुत लेख अज्ञेय के तत्संबंधी मूल्यवान विचारों पर ध्यान दिलाता है।**

**''भाषा कल्पवृक्ष है। श्रद्धापूर्वक जो उस से माँगो, वह देती है। यदि उस से कुछ माँगा ही न जाए क्योंकि उस से कुछ लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तब तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता।''**

**–अज्ञेय**

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1911-87) एक महान हिंदी कवि थे। उनकी अनेक कविताओं में शास्त्रीय गूँज और सामर्थ्य है, जिनसे संवेदनशील पाठक कई पीढ़ियों तक समृद्ध होते रहेंगे। पर अज्ञेय की ख्याति कवि के साथ-साथ विचारक और निबंध लेखक के रूप में भी हुई। बच्चों और युवाओं, विशेषकर उनकी शिक्षा के विषय में भी उन्होंने बड़े सारगर्भित

**असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, समाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

लेख लिखे हैं। उन लेखों और व्याख्यानों की संख्या अवश्य कम है, किंतु उनमें कुछ अत्यंत मूल्यवान बातें कहीं गई हैं जिनका अध्ययन, मनन करना शिक्षाविदों और शिक्षार्थियों के लिए लाभदायक होगा। आज तीन-चार दशक बीत जाने के बाद भी अज्ञेय के विचारों की मूल्यवत्ता तनिक भी कम नहीं हुई है। उनकी 'केंद्र और परिधि' नामक पुस्तक में भाषा और शिक्षा संबंधी उनके निबंध और व्याख्यान संकलित हैं। प्रत्येक शिक्षक और शिक्षाविद् को उसका अध्ययन करना चाहिए। यहाँ अज्ञेय के भाषा संबंधी चिंतन को संक्षेप में रखा जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द और गाँधी की तरह अज्ञेय ने भी इस बात पर बल दिया था कि बालक-बालिकाओं को अपनी भाषा पहले अच्छी तरह सीखनी चाहिए। अपनी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य को भी अवश्य पढ़ते रहना चाहिए। आज प्रायः हमारी शिक्षा में ऐसा नहीं हो रहा है। दो-चार कहानी और कविताएँ भाषा की पाठ्य-पुस्तक में रहती हैं। उसी को पढ़-पढ़ाकर साहित्य अध्ययन की इतिश्री हो जाती है क्योंकि बच्चों का लगभग संपूर्ण समय मुख्यतः विज्ञान तथा अन्य विषय की पढ़ाई में लगाया जाता है। किंतु यह स्थिति बच्चों के संपूर्ण विकास की दृष्टि से अत्यंत हानिकारक है।

सर्वप्रथम, श्रेष्ठ साहित्य का पर्याप्त अध्ययन नहीं करने से बच्चों की अभिव्यक्ति क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि भाषा की समझ और उस पर पकड़ अंततः साहित्य की भाषा से ही प्राप्त होती है। मन में उठने वाले हर मनोभाव और बात को सटीक शब्दों और अच्छे वाक्यों में बोलने, लिखने की क्षमता एक बहुत बड़ी शक्ति है। किसी व्यक्ति के पास यह न होने से जीवन में काम भले चल जाए, पर इससे उसका व्यक्तित्व दुर्बल होता है। हमारे बड़े-बड़े जाने-माने पब्लिक यानि निजी स्कूलों में भी, जहाँ सारी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होती है, स्थिति भिन्न नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः देखी जाने वाली बात है कि जो लोग सदैव अंग्रेजी में ही लिखते, बोलते हैं उन में भी अधिकांश अपनी सभी बातें, भावनाएँ, समस्याएँ अंग्रेजी में नहीं व्यक्त कर पाते। हरेक कार्यालय, संस्थान में इसका प्रमाण पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी भाषा पर समुचित ध्यान नहीं दिया, इसलिए वे अँग्रेजी में भी अधिक सक्षम नहीं बन सके। ऐसे लोग भावनात्मक, मानसिक रूप से अधिक दुर्बल होते हैं। उनके बड़े पद, धनाढ्यता अथवा चमकते परिवेश आदि से भ्रमित न हों। अतः बच्चों की शिक्षा में अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार उसकी सबसे बड़ी भलाई है। इस पर अज्ञेय ने बहुत बल दिया था।

यह सच है कि शिक्षा की भाषा की समस्या हमारे देश में उलझकर रह गई है। इसका कारण है कि हम ठीक-ठीक नहीं समझते कि भाषा के साथ मनुष्य का संबंध क्या है? इसके प्रति भ्रामक समझ पूरी स्थिति को उलझाती है। अज्ञेय ने कहा था कि हम भाषा को नहीं बनाते, पहले भाषा ही हमें बनाती है। यह बहुत बाद में होता है जब भाषा की साधना करने वाले सरस्वती के कुछ वरद्-पुत्र भाषा को भी बनाते हैं, पर मूल

बात यह है कि जिस भाषा को हम जन्म से ही सहज रूप में सुनते, जानते, सीखते हैं जिस के परिवेश में रहते हैं, उसी से हमारी पहचान बनती है, उसी में हम गढ़े जाते हैं। यदि उसी भाषा की उपेक्षा करके बचपन से ही किसी अन्य भाषा की आराधना की जाए, तो ज़्यादातर यही होता है कि बच्चे किसी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाते। उनका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है।

इस प्रकार भाषा किसी की अस्मिता से जुड़ी होती है। अज्ञेय कहते थे 'हमें सदैव यह प्रश्न पूछना चाहिए–आपकी अस्मिता, आपके होने, आपकी पहचान की भाषा क्या है?' इसके बाद ही दूसरी बातों को अधिक स्पष्टता से समझना संभव होगा। अपने बाल-बच्चों के भविष्य की चिंता भी इस के प्रकाश में करनी चाहिए। उन्हें हम क्या, कैसा बनाना चाहते हैं? मात्र मनीमेकर या मर्सिनरी (mercenary) या फिर आत्मनिर्भर, आत्मवान, गौरवपूर्ण मनुष्य? यदि वह अपने वास्तविक समाज और परिवेश की भाषा को गंभीरतापूर्वक, उच्च महत्त्व देते हुए नहीं सीखता—तो वह और जो कुछ बने, आत्मवान मनुष्य बन सकेगा, इसमें संदेह है।

अज्ञेय ने कहा था, "हमारे हाथ मुक्त हों, हमारा हृदय मुक्त हो, हमारी बुद्धि मुक्त हो, इस से बड़ी सफलता न हमारी शिक्षा हमें दे सकती है, न हम शिक्षा को दे सकते हैं।"[1] इन शब्दों का मर्म प्रत्येक शिक्षाविद् और नीति-निर्माता को सदैव स्मरण रखना चाहिए। शिक्षकों और माता-पिताओं को भी यह बड़ी गंभीरता से समझने की आवश्यकता है कि मनुष्य की आत्मनिर्भरता केवल आर्थिक ही नहीं, भावनात्मक और मानसिक भी होती है। यह केवल धनी बन जाने, किसी बड़े कारोबार का उत्तराधिकारी होने या जीवन-यापन के लिए कोई लाभकारी पद प्राप्त कर लेने मात्र से नहीं होती। यदि इस तत्व-पूर्ण बात को हम समझ सकें तो बच्चों की शिक्षा में उसकी अपनी भाषा के अच्छे ज्ञान के प्रति उतने ही चिंतित रहेंगे जितने गणित और विज्ञान के लिए।

अभी ऐसा नहीं हो रहा है तो कारण यही है कि मनुष्य की अस्मिता के महत्व को हम नहीं समझते। यह वही चीज़ है जिससे हम पशु-जगत से अलग होते हैं। आहार-निद्रा-मैथुन और जीवन-यापन तो पशु भी करते हैं। मनुष्य इससे बढ़कर मूल्यों की सृष्टि करते हैं। ऐसे मूल्यों की जिनके लिए त्याग और प्राणों तक के बलिदान को भी उचित समझते हैं। यही मनुष्यत्व है। इसी अर्थ में भाषा और संस्कृति हमारे बच्चों की शिक्षा का आनुषांगिक नहीं, बल्कि केंद्रीय अंग होने चाहिए। मात्र मनीमेकर बनाने वाली दृष्टि, जो आज संपूर्ण शिक्षा-जगत को ग्रस चुकी है, बच्चों और युवाओं की दूरगामी हानि करना है। इस बात से कम ही शिक्षा नीति के निर्माता या बच्चों के माता-पिता अवगत हैं।

जहाँ तक हिंदी भाषा की स्थिति है, इस बारे में प्राय: हिंदी की गलत परिभाषा से आरंभ होता है। भारत के अंदर कथित हिंदी प्रदेश की संज्ञा

1. अज्ञेय, 2005(1984),'शिक्षा–जोड़ने वाली तोड़ने वाली', *केंद्र और परिधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-68

एक नितांत दोषपूर्ण धारणा है। हिंदी यहाँ किसी प्रदेश के जीवन के साथ एकात्म बोली नहीं है। यह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है, जैसे– तमिल, बांग्ला, मैथिली, भोजपुरी आदि हैं। जिसे विचार–विमर्श में गलती से हिंदी प्रदेश कह दिया जाता है, वह वस्तुत: कई विशिष्ट भाषाओं का अपना–अपना सहज क्षेत्र है। जैसे, मगधी, मैथिली, अवधी, ब्रज, कुमाऊँनी, राजस्थानी, छतीसगढ़ी, आदि। इन सबको हिंदी क्षेत्र कहने का भ्रम इसलिए चलता है क्योंकि यह भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इस कारण इन सभी भाषाओं को हिंदी या हिंदी की विविध बोलियाँ समझ लिया जाता है। पर ध्यान दें कि यदि बांग्ला या गुजराती को देवनागरी में लिखें तो वह मैथिली या मगधी जैसी ही हिंदी के निकट या दूर लगेगी। कितने लोगों ने ध्यान दिया है कि हमारा राष्ट्र–गीत और राष्ट्र–गान दोनों ही बांग्ला गीत और गान हैं? परंतु देवनागरी में लिखे जाने पर किसी हिंदी भाषी को वह बांग्ला नहीं लगता। वही स्थिति तेलुगु या पंजाबी के साथ भी है। अत: हिंदी किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है। वह भारत के सभी भाषा–भाषियों के सम्मिलित योगदान से बनी है। उसकी कोई विशिष्ट या अलग शब्दावली नहीं है इसलिए वह पूरे भारत में बोली, समझी जाती है। वह या तो पूरे भारत देश की भाषा है, या कहीं की नहीं। यही हिंदी की पहचान और भूमिका है। पूरे देश की जनता की चाह और योगदान से ही वह बनी है।

यही कारण है कि हाल के युग में हिंदी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ हुआ। अज्ञेय ध्यान दिलाते हैं कि हिंदी को अपनाने, बढ़ाने की माँग ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष के दौर में कलकत्ते, बंबई, अहमदाबाद आदि स्थानों से आरंभ हुई थी–पटना, लखनऊ या भोपाल से नहीं। इसे समझने की आवश्यकता है कि हिंदी भारत की सभी भाषाओं के संगम से बनी। पूरे देश में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों द्वारा विविध कार्यों के लिए प्रयोग किए जाते रहने के कारण ही यह स्वभावत: आधुनिक भी है। क्योंकि यह भारतवर्ष की समग्र संस्कृति की संवाहिका है। यही हिंदी फिल्मों की सर्वप्रियता का रहस्य भी है। इसीलिए देश की किसी भी भाषा में कुछ नया, मूल्यवान आता है तो यही उसे लेकर पूरे देश में प्रसारित करती है। इस प्रकार, 'क्लियरिंग हाउस'[2] का भी काम करती है। यह काम हिंदी फिल्मों से पहले के जमाने में भी होता रहा था।

अज्ञेय के अनुसार, देश में हिंदी का विरोध बड़ा या गहरा नहीं है। जहाँ है वहाँ भी वहीं तक जहाँ भारतीय अस्मिता का भी विरोध या उपेक्षा है। उनके कहने का अर्थ यह नहीं था कि हिंदी का विरोध करने वाले भारतीय नेता या बुद्धिजीवी आवश्यक रूप से देश विरोधी ही हैं बल्कि मात्र यह कि हिंदी का विरोध करने वाले कहीं न कहीं देश या राष्ट्र की चिंता का बहुत ध्यान नहीं रखते। नहीं तो वे देश के विराट साधारण जनसमुदाय के काम आने वाली इस सार्वक्षेत्रीय

**2.** अज्ञेय, 2005(1984), 'हिंदी: भारत के हृदय की कुंजी', *केंद्र और परिधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.–88

भाषा का यूं विरोध नहीं करते। दूसरी ओर, यह तो स्वयं परखने की बात है कि राष्ट्रीय भाव से किनाराकशी या विदेशी स्रोतों, संभावनाओं से क्षुद्र स्वार्थपूर्ति और उस की आशा–हिंदी विरोध मुख्यत: इन्हीं भावनाओं से जुड़ा है।

हिंदी की उपेक्षा और अंग्रेज़ी आराधना मात्र आर्थिक, विशेषाधिकारी, संकीर्ण स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण है। अन्य कोई कारण नहीं जिस पर औपनिवेशिक, दोषपूर्ण शिक्षा तथा कुशिक्षा के कारण केवल भौतिक समृद्धि को ही प्रगति का आधार मान लिया गया है। फिर, भौतिक समृद्धि का मापदंड भी पश्चिम का अपना लिया गया। यदि यही रहा तो हम प्रगति करने के बदले पश्चिम के पिछलग्गू ही नहीं रहेंगे, वरन् पिछड़ते भी जाएंगे। अज्ञेय की यह बात आज किसी को अनुपयुक्त लग सकती है। किंतु तभी तक जब तक हम दुनिया में भारत की आर्थिक उन्नति के ऊपरी प्रचार से स्वयं को गफ़लत में रखें। जब हम दुनिया के रंगमंच पर राजनीतिक, कूटनीतिक, सांस्कृतिक मानदंडों पर अपनी वास्तविक हैसियत का आकलन करेंगे तो हमारी पर-निर्भरता, पर-मुखापेक्षता और सांस्कृतिक भीरुता स्वत: दिखेगी। केवल विदेशी-मुद्रा भंडार के आंकड़े पिछलग्गूपन का विपर्याय नहीं साबित हो सकते।

भारत के कर्णधारों द्वारा आधुनिक राष्ट्र बनने की चाह में अंग्रेजी का वर्चस्व, एकाधिकार बढ़ाना अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, अपनी दृष्टि को खो देना ही रहा है। आत्महीन, दृष्टिहीन होकर कोई कितना बढ़ सकता है यह विचारने की बात है। अज्ञेय के शब्दों में, हमारे जीवन में अंग्रेजी का बढ़ता प्रभाव हमारे लिए "किस्तों में आत्मघात"[3] है। उन्होंने बल देकर कहा था कि अगर देश एक सांस्कृतिक इकाई नहीं है, यदि उसमें अस्मिता का बोध नहीं है तो आर्थिक प्रगति के बावजूद वह वेध्य बना रहेगा। क्या यह सत्य नहीं है?

हाल के वर्षों की अनेकानेक घटना, राजनीतिक बौद्धिक घटनाक्रम और जिहादी उग्रता, आतंकवाद का बढ़ता दबदबा इस का प्रमाण है कि हमारे कर्णधार, मीडिया समेत हमारे बौद्धिक, नीति-निर्मात्री संस्थान कितने भीरू, लज्जित, निरुपाय दिखते हैं। उनके पास कश्मीरी पंडितों की दुर्दशा, तरह-तरह के अलगाववाद अथवा सीमावर्ती प्रदेशों पर बाह्य जनसांख्यिकी आक्रमण का कोई उत्तर नहीं। क्योंकि देश का और हमारा अपना भी अस्मिता-बोध दुर्बल हुआ है। अंग्रेज़ी की बढ़त ने हमें अपनी परंपराओं, संस्कृति, शास्त्र, भाषा ही नहीं अपने लोगों और प्रदेशों से भी भावनात्मक रूप से दूर किया है। हमारे असंख्य युवाओं की भावनाएं यूरोप और अमेरिकी संवेदनाओं से अधिक जुड़ती या जुड़ना चाहती प्रतीत होती हैं। इस प्रकार, कई पहलुओं से हमारी सांस्कृतिक एकता कमज़ोर हुई है। भाषा का प्रश्न इन सभी बातों से गहरे जुड़ा है। राष्ट्रीय चेतना का भावनात्मक रूप से छीजना हिंदी की उपेक्षा का मूल कारण है।

अज्ञेय ने इस पर भी ध्यान दिलाया था कि देश में मौलिक चिंतन की संभावना कम से

3. अज्ञेय, 2005(1984), 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य', *केंद्र और परिधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-10

कमतर क्यों होती जा रही है। सभी विषयों में अभी स्थिति क्या है? विदेशी भाषाओं के पुराने, नए चिंतन का पहले अंग्रेजी में अनुचिंतन होता है; फिर उस का घटिया अंग्रेजी में अनुलेखन होता है। तब उस का जैसा-तैसा अनुवाद भारतीय भाषाओं में आता है। इसी तीसरे दर्जे की बौद्धिक सामग्री पर हमारी संपूर्ण बौद्धिक व्यवस्था पल रही है। इसी से हमारी नई पीढ़ी के कर्णधार, शिक्षाविद्, पत्रकार, प्रशासक आदि बन रहे हैं। उनमें सामाजिक, राष्ट्रीय समस्याओं से लेकर दर्शन, साहित्य आदि किसी विषय में मौलिक चिंतन की क्षमता कहाँ से पैदा होगी?

इसी से जुड़ी स्थिति साहित्य की भी है। विश्व में उस साहित्य की कहीं कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं जिस में कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। यहाँ प्रश्न भौगोलिक क्षेत्र का नहीं, बल्कि दृष्टि का है। हमारे लेखकों, कवियों, प्रोफेसरों के कथित 'आधुनिक', 'प्रगतिशील', 'जनवादी', 'सेक्यूलर' या 'पोस्ट-मॉडर्न' लेखन का अधिकांश किसी भूमि पर नहीं खड़ा है। जहाँ-तहाँ से बहकर आई खपच्चियाँ जोड़ कर बनाई गई बिन पतवार की नौका पर वह अनिश्चित तैर रहा है। उसमें अपनी अनुभूत, विचारित, सत्यनिष्ठ बातें नगण्य हैं। ऐसा साहित्य मिथ्या आत्मतोष भले दे, किसी लेखक की उपलब्धियों का कागज़ी बायो-डाटा दिखने में तनिक भारी बना दे, पर वह न टिक सकता है, न सम्मान पा सकता है।

अज्ञेय ने कहा था, "भाषा कल्पवृक्ष है। श्रद्धापूर्वक जो उस से माँगो, वह देती है। यदि उस से कुछ माँगा ही न जाए क्योंकि उस से कुछ लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तब तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता।"[4] यह बड़ी गहरी बात है। जिन लोगों को लगता है कि हिंदी के माध्यम से 'ऊँचे' नहीं जाया जा सकता—उनके लिए यह बात ध्यातव्य है। जिन्हें अपनी भाषा पर श्रद्धा है, वे उसी के माध्यम से सुख, समृद्धि और उल्लास पा सकते हैं, पाते हैं। इसे उलटकर भी देख सकते हैं। जिन लोगों ने अपनी भाषा को त्यागकर आरंभ से ही अंग्रेजी की मतिहीन अभ्यर्थना की है, क्या उन्हें वह सब उपलब्ध हो सका है जिससे वे वास्तविक समृद्धि, संतोष पा सकें? यदि नहीं, तो समस्या कहाँ पर है? यह ठीक से विचारने का प्रश्न है।

अज्ञेय ने हिंदी लेखकों को जो सीख दी थी, वह वास्तव में हिंदी में पढ़े-लिखे प्रत्येक शिक्षक, पत्रकार और बुद्धिजीवी के लिए भी सत्य है। उन्हें हिंदी में लिखना चाहिए और भरसक ऐसा लिखना चाहिए कि वह सम्मान के योग्य हो। हिंदी में जो साहित्य लिखा जाता है, चाहे वह किसी भी विषय में हो, उस लिखे के प्रति विद्वानों में सम्मान का भाव बढ़े। अज्ञेय ने चेतावनी दी थी कि अब हिंदी को हमें माँजना है, क्योंकि वह मैली हो रही है। लेखकों, विद्धानों को इसका महत्त्व समझना चाहिए कि भारत में हिंदी या मलयालम, कन्नड़ आदि अपनी भाषाओं में लिख कर जो तृप्ति मिलती है वह अंग्रेज़ी में लिख कर नहीं मिल सकती। क्योंकि कोई कृतिकार अपने माध्यम का उपयोग ही नहीं करता, उसकी सृष्टि भी करता है। और

**4.** अज्ञेय, 2005(1984), 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य', *केंद्र और परिधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-11

हम जो हैं, उसी की सृष्टि कर सकते हैं। जिस से हम बने हैं उसे पहचानते हुए उसे सच्ची अभिव्यक्ति दें तो वर्तमान और भविष्य हमारे हैं। नहीं तो हम कहीं के नहीं हैं। हम वही बन सकते हैं जो हम हैं। अपनी पहचान की भाषा पहचानें, स्वयं समृद्ध बनें। यह सीख अज्ञेय ने कई बार दुहराई है। उन्होंने यह भी कहा था कि हमारे लेखकों को जो सत्य दीखता है उस पर आचरण करना और उस के लिए जो दण्ड मिले उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि हिंदी या तेलुगू आदि में लिखने, पढ़ने से कोई सुख-सुविधाओं से वंचित किया जाता है तो उन के बिना ही जीने के लिए प्रस्तुत हों और इसी में गौरव अनुभव करें। इसका कोई विकल्प नहीं। इसी में हमारी और देश की भी गरिमा हैं यह बात भी गहराई से समझने की है।

भारत में विभिन्न भाषाओं की सशक्त उपस्थिति प्राय: एक समस्या के रूप में देखी जाती है। अज्ञेय ने इसे भिन्न रूप में देखा था। उनका कहना था कि भारत में एक अपनी राष्ट्रभाषा पर ज़ोर देने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी एक लिपि—देवनागरी—पर।[5] देवनागरी में लिखी कन्नड़, गुजराती आदि कोई भी भारतीय भाषा दूसरे भाषा-भाषी भारतीय को वैसे ही काफ़ी समझ में आ जाएगी। तब दिखेगा कि भारतीय भाषाएं उतनी भिन्न नहीं हैं, न हिंदी किसी एक प्रदेश की है। किंतु उन्होंने सावधान किया था कि एक लिपि के रूप में किसी भी हाल में रोमन लिपि अपनाने की अनुशंसा नहीं करनी चाहिए। वह भारतीय भाषाओं की निश्चित मृत्यु का पहला कदम होगा।

किसी लेखक के लिए सर्वोपरि महत्त्व है कि वह अपने माध्यम की शक्ति और मर्यादा को पहचाने। शब्दों के दुरुपयोग को रोके जो हमारी संवेदनाओं को कुंद बनाती है। शिक्षा पद्धति में भाषा के इस पहलू की उपेक्षा हो रही है। इसलिए आज हमारे लिए इसका अतिरिक्त महत्त्व हो गया है। 'समझ में आने लायक' के नाम पर हिंदी को दुर्बल बनाने या नीचे गिराने का काम नहीं होना चाहिए। भाषा शक्ति है। जिसे कोई शब्द, अभिव्यक्ति नहीं समझ में आई वह उसे सीखे, यही उस के हित में है, न कि भाषा को नीचे लाना। यहाँ हम इस बात पर भी ध्यान दे सकते हैं कि समझ में आने लायक बनाने के नाम पर हिंदी को ही गिराने का आग्रह होता है, अंग्रेज़ी के मामले में सदैव विद्यार्थी को ही ऊपर उठने का निर्देश दिया जाता है। कि वह नई अभिव्यक्तियाँ सीखे, नए मुहावरे जाने, नए प्रयोग समझे। जबकि हिंदी को 'आम-फ़हम' बनाने के नाम पर क्षुद्रता, संकरता के स्तर पर लाने में भी कोई संकोच नहीं किया जाता। इस दोहरेपन को समझना आवश्यक है।

अज्ञेय मूलत: किसी कथित हिंदी क्षेत्र के न थे। उनका परिवार पंजाबी ब्राह्मणों से आया था। उनकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी और संस्कृत से आरंभ हुई थी। देश के विभिन्न कोनों में रहकर अज्ञेय पले, पढ़े, बढ़े। बाद में, एक बड़े कवि और चिंतक के रूप में उन्होंने विदेशों में भी पर्याप्त ज्ञान और अनुभव

5. अज्ञेय, 2004(1983), 'परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया', *आत्मपरक,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-70

प्राप्त किया था। उनकी रचनाएँ अंग्रेज़ी, जर्मन और कुछ पूर्व यूरोपीय भाषाओं में भी अनूदित की गई थीं। इसलिए, अज्ञेय के विचारों पर हमें एक गुरू–गंभीर चिंतक और महान अवलोकनकर्त्ता की मूल्यवान सीख के रूप में मनन करना चाहिए। विशेषकर, भाषा, संस्कृति और शिक्षा संबंधी विचारों को।

आज के संदर्भ में हमें अज्ञेय के इस विचार को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यह नारा गलत है कि 'हिंदी को खतरा है, हम उसे बचाएं।'[6] सच तो यह है कि आज हमारी अस्मिता आक्रांत है, राष्ट्रीय बोध आक्रांत है, इसलिए हमारी भाषा भी आक्रांत है। सही नारा यह होगा कि "हम खतरे में हैं, जिस से हिंदी हमें बचा सकती है"। इसलिए हिंदी अपनाएं, उससे लगाव बढ़ाएँ, उससे स्वयं समृद्ध, शक्तिमान बनें। भाषा से यही हमारा सही संबंध होगा। अंततः इसी से हम स्वयं बलवान बनेंगे और देश भी सबल होगा।

6. अज्ञेय, 2004 (1983), 'आँखों देखी और कागद लेखी', *आत्मपरक*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.–270